अद्वैत वेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्याएँ

शंकर के बाद की कहानी अजीब है। अद्वैत को ही लें तो उसका इतिहास अस्पष्ट ही नहीं बल्कि बहुत कुछ उलझा हुआ भी प्रतीत होता है। एक ओर शंकर के शिष्य पद्मपाद और सुरेश्वर थे, जिन्होंने स्वयं शंकर के विचार को अलग-अलग तरह से व्याख्यायित करने की चेष्टा की और दूसरी ओर मण्डन मिश्र थे, जिनकी कथा सर्वविदित है कि पहले वे मीमांसक थे और बाद में शास्त्रार्थ में शंकर से हारकर उन्होंने सन्यास ले लिया और वे अद्वैत वेदान्त के अनुयायी हो गए। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मण्डन मिश्र और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति हैं, सन्यास लेने के बाद मंडन मिश्र का नाम ही 'सुरेश्वर' हो गया था। जो भी हो, समस्या 'नाम' की नहीं है बल्कि इस बात की है कि अगर वे ब्रह्मसिद्धि के रचयिता हैं तो अद्वैत चिन्तन की परम्परा में उन्हें किस प्रकार समझा जाये? अगर वे वही मण्डन मिश्र हैं जो शंकर से मिलने से पहले प्रखर मीमांसक थे और जिन्होंने विधि-विवेक और भाव-विवेक की रचना की, तो ऐसा मानना पड़ेगा कि शंकर से शास्त्रार्थ होने के बाद उन्होंने मीमांसा के बारे में अपना मत बदल दिया था, क्योंकि ब्रह्मसिद्धि में उन्होंने मीमांसा की दृष्टि को अस्वीकार किया। दूसरी ओर, अगर यह मान लें कि शंकराचार्य से मिलने के बाद उनका अद्वैत में विश्वास हो गया था तो फिर आश्चर्य की बात यह है कि ब्रह्मसिद्धि में अद्वैत मत का जो प्रतिपादन है वह शंकर के 'अद्वैत' से भिन्न है। यही नहीं, अद्वैत की परम्परा में उसको कोई महत्त्व नहीं मिला है, हालांकि चित्सुखाचार्य जैसे विद्वानों ने उस पर अपनी व्याख्या-टीका लिखी है। वे 'शब्द ब्रह्म' को या 'शब्दाद्वैत' को स्वीकार करते दिखाई देते हैं और वे इस प्रकार भर्तृहरि के वाक्यपदीय की परम्परा में प्रतीत होते हैं, जो अद्वैत के आचार्यों को साधारणत: अमान्य है। यही नहीं, अपने ग्रन्थ में वे अद्वैत की उन सब परम्पराओं से परिचित प्रतीत होते हैं जो सुरेश्वर, पद्मपाद और वाचस्पति मिश्र प्रथम के नाम से जुड़ी हैं। बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद, जो इन लोगों के नाम से जुड़े हैं, उनका निरूपण ब्रह्मसिद्धि में पाया जाता है। पद्मपाद और सुरेश्वर तो शंकर के

शिष्य थे ही परन्तु वाचस्पति मिश्र प्रथम तो उनके बाद में हुए। अगर उनके मत का ज्ञान ब्रह्मसिद्धि में पाया जाता है तो इसका अर्थ यही होगा कि वे सभी मत ब्रह्मसिद्धि के रचयिता को मालूम थे और अगर ऐसा था तो यह मानना पड़ेगा कि शंकर से पहले भी कोई अद्वैत की परम्परा थी जिसके सन्दर्भ में ये सभी मत प्रचलित हो चुके थे। एक तरह से यह बात जैनाचार्य समन्तभद्र की उस युक्ति में भी प्रकट होती है जिसके द्वारा उन्होंने अद्वैत का खण्डन करने की चेष्टा की है। आप्त मीमांसा में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अद्वैत को 'हेतु' और 'साध्य' में तो भेद मानना ही पड़ेगा, क्योंकि अगर ऐसा भेद नहीं मानते हैं तो फिर अपने मत के लिए न कोई युक्ति दे सकता है, न तर्क।

अद्वैत चिन्तन की परम्परा में 'अध्यास', 'अविद्या' और 'माया' ये मूल प्रत्यय हैं। अध्यास से तो शंकर अपना भाष्य प्रारम्भ ही करते हैं और अविद्या अध्यास का ही दूसरा नाम है। इसका एक अन्य नाम मिथ्या ज्ञान या मिथ्यात्व है जिसका अर्थ शंकर ने इस प्रकार किया है कि किसी वस्तु को उस प्रकार जानना जैसी वह नहीं है मिथ्याज्ञान है। मिथ्यात्व का अर्थ ही यह है कि वस्तु के स्वरूप को न जानते हुए उसको किसी और रूप में देखना और उस देखने को 'सत्य' मानना। अध्यास का अर्थ यही है कि हम किसी वस्तु पर वह आरोपित करते हैं जो उसका अपना स्वरूप नहीं है। कुछ-कुछ अविद्या का भी यही अर्थ है। शंकर ने भाष्य के प्रारम्भ में ही दो बातें कही हैं जिनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। पहली यह कि अध्यास के लिए दोनों वस्तुएँ अनुभूत होनी चाहिएँ। अगर ऐसा नहीं है तो उनमें अध्यास किस प्रकार हो सकता है? अगर हम एक चीज़ को बिल्कुल ही नहीं जानते तो उस पर किसी और चीज़ का आरोप कैसे कर सकते हैं? यह बात उन्होंने इस पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में कही है कि अगर आत्मा पूर्ण रूप से अविषय है तो फिर उसे अन्य विषय के रूप में देखा ही कैसे जा सकता है? वे कहते हैं—

नायमात्माह्येकान्तेनाविषय: आत्मप्रत्यय गोचरत्वात्।।

—ब्रह्मसूत्र-भाष्य, उपोद्घात।।

अर्थात् आत्मा ऐकान्तिक रूप में अविषय नहीं है, क्योंकि वह अहं-प्रत्यय के रूप में जाना भी जाता है।

परन्तु जो इससे भी अधिक आश्चर्य की बात है, जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, वह यह है कि इसके तुरन्त बाद शंकर यह कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अध्यास के लिए यह आवश्यक ही हो कि जिन दो चीज़ों के बीच में अध्यास है वे दोनों विषय रूप में उपस्थित हों। यही नहीं, इसका वे उदाहरण भी देते हैं और समझाते हैं कि अध्यास होने के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता क्यों नहीं है? वे कहते हैं कि आकाश के विषय नहीं होने पर भी हम

उस पर तल-मलिनता का आरोप करते हैं। परन्तु शंकर ने इस उदाहरण पर और इस उदाहरण से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया। आख़िर आकाश यदि विषय रूप में उपस्थित नहीं है तो फिर वह किस रूप में उपस्थित है? उसको मानने की या स्वीकार करने की आवश्यकता क्यों है? 'आकाश' तो दिखाई नहीं देता—हाँ, 'मलिनता' अवश्य दिखाई देती है। पर यह मानने की ज़रूरत क्यों हुई कि यह मलिनता आकाश का गुण है या उस पर आरोपित है?

साधारणत: आकाश को शब्द के आश्रय के रूप में देखा गया है, हालांकि ऐसा शायद न्याय में ही स्पष्टत: स्वीकार किया गया है। परन्तु शंकर के उदाहरण के सन्दर्भ में प्रश्न यह नहीं उठता कि आकाश की मान्यता किस आधार पर हुई या उसको मानने की ज़रूरत क्यों पैदा हुई? बल्कि यह कि यदि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तो क्या वह अनुमान का विषय है या और किसी प्रमाण का? अध्यास के सन्दर्भ में जैसे ही हम अप्रत्यक्ष विषयों को स्वीकार कर लेते हैं तब जो समस्याएँ उठती हैं उन पर भारतीय चिन्तन में अधिक ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि साधारणत: वे उन्हीं विषयों को 'विषय' रूप में स्वीकार करते हैं जो अनुभव के विषय होते हैं और अधिकतर प्रत्यक्षात्मक अनुभव के। वैसे तो जो आन्तर अनुभव अन्तरिन्द्रिय के विषय हैं उनको भी प्रत्यक्ष के विषयों के रूप में स्वीकार किया गया है, पर वे तत्त्व या वस्तुएँ, जिनकी मान्यता का आधार केवल बौद्धिक आवश्यकता है और जिनके विषय में भी हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, उनके सन्दर्भ में अध्यास की चर्चा नहीं की गयी है। लेकिन यदि मिथ्यात्व है तो शंकर के ज्ञान-विश्लेषण के आधार पर अध्यास होना ज़रूरी है, क्योंकि उनके लिए 'मिथ्यात्व' और 'अध्यास' एक ही बात के दो पहलू हैं, या एक ही बात को कहने के दो भिन्न-भिन्न तरीके हैं।

आकाश के उदाहरण में शंकर कम-से-कम मलिनता को तो प्रत्यक्ष मानते हैं, पर यह भी सोचा जा सकता है कि शुद्ध बौद्धिक आधार पर स्वीकार की हुई वस्तुओं या तत्त्वों में भी वे गुण आरोपित किये जाते हैं जो वास्तव में उनमें नहीं होते! यह बात प्रथम दृष्टि में शायद बहुत ही अजीब लगेगी लेकिन थोड़ा अधिक विचार करने पर ऐसा शायद नहीं लगे। आख़िर अद्वैत के ही सन्दर्भ में बात करें तो 'ईश्वर' किस प्रकार का सत्त्व है? क्या वह अनुभूति का विषय है? और उस पर जो गुण आरोपित किये जाते हैं वे गुण किस प्रकार के हैं? अगर ईश्वर 'विषय-रूप' है तो अद्वैत के सन्दर्भ में तो वह अविद्याजन्य ही माना जायेगा और उसमें जो भी गुण आरोपित होंगे वे भी मिथ्यात्व से ग्रसित होंगे, और अगर वह बौद्धिक चिन्तन की अनिवार्य पूर्वमान्यता है तो भी वह कुछ-कुछ उस आकाश की तरह ही होगा जिस पर मलिनता आरोपित होती है। हालांकि 'ईश्वर' पर जो गुण आरोपित होते हैं वे न प्रत्यक्ष के विषय हैं न अन्त:संवेद के। फिर उनके विषय में यह कैसे निश्चित हो सकता है कि उनमें कोई ऐसा दोष है कि वे ईश्वर पर

आरोपित किये ही नहीं जा सकते? यह बात उन गुणों के बौद्धिक विश्लेषण से प्रकट होगी। देखने में चाहे वे गुण कितने ही 'सत्य' प्रतीत हों, अधिक ध्यान से देखने पर वे अन्तर्विरोध से ग्रसित प्रतीत होंगे। ईश्वर पर आरोपित कुछ गुण ऐसे ही लगते हैं। जैसे उसको हम 'सर्वज्ञ' भी मानते हैं और सर्वशक्तिमान् भी। 'कर्त्तुं, अकर्त्तुं, अन्यथाकर्त्तुं' उसका एक लक्षण दिया जाता है। पर थोड़ा सोचने पर, थोड़ी समझ रखने वाले को भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि जो सर्वज्ञ है वह सर्वशक्तिमान् कैसे हो सकता है, क्योंकि उसे तो पहले से ही पता है कि वह क्या करेगा या करने जा रहा है! और अगर ऐसा है तो फिर उसके सर्वशक्तिमान् होने की बात करना किसी ऐसी चीज़ की बात करना है जो अपने-आप में कभी भी चरितार्थ हो ही नहीं सकती। यही बात बहुत से अन्य गुणों के बारे में भी सत्य है।

ईश्वर की बात छोड़ भी दें तो यह बात साधारण सन्दर्भों में बार-बार दिखायी देती है। आज का भौतिक विज्ञान तो ऐसी तात्त्विक कल्पनाओं से भरा पड़ा है जिन्हें बौद्धिक 'समझ' के लिए मानना ज़रूरी समझा गया। जब कोई यह बताने की कोशिश करता है कि ये 'तत्त्व' या 'पदार्थ' अन्तर्विरोध से भरे हैं तो वैज्ञानिक यही कहते हैं कि अभी तो कम-से-कम हमें इन अन्तर्विरोध-युक्त पदार्थों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना हम अपने भौतिकीय प्रयोगों में होने वाले अनुभवों को समझ ही नहीं सकते।

अद्वैत की दार्शनिक परम्परा इस प्रकार की बात नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपनी बात आनुभविक प्रयोगों पर आधारित नहीं करती और न ही यह स्वीकार करती है कि इस प्रकार के अन्तर्विरोध स्वीकार्य हो सकते हैं। वेदान्त-परम्परा में तो एक और परेशानी की बात भी है : वह न अनुभव की बात करता है, न तर्क की, वह तो उपनिषदों के कुछ वाक्यों को लेकर, जिन्हें साधारणत: 'महावाक्य' कहा जाता है, पकड़े बैठा है और उसका चिन्तन इनकी व्याख्या में ही लगा रहता है। अगर कोई पिछले डेढ़ हज़ार साल के वेदान्त-चिन्तन पर ग़ौर करे तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। एकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किंचन, उपनिषद् के इन वाक्यों को लेकर कितनी खींचातानी हुई है और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों ने इनके क्या-क्या अर्थ निकालने की कोशिश की है, इस पर कोई निर्लिप्त और नि:संग भाव से अगर ध्यान दे तो उसके लिए इनको अध्यात्म-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु मानना मुश्किल होगा।

अनुभव और तर्क की बात वेदान्त के सन्दर्भ में अक्सर की जाती है। पर जो लोग यह बात करते हैं अगर उनसे यह पूछा जाये कि क्या वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में भेद 'अनुभव' के आधार पर है, तो उनके लिए स्पष्ट उत्तर देना मुश्किल होगा। यही बात 'तर्क' के सम्बन्ध में है। बात बार-बार मुड़कर उपनिषदों के महावाक्यों पर समाप्त होती है और झगड़ा इस बात का है कि इनका अर्थ क्या है? यह ठीक है कि इस लम्बे झगड़े का एक बौद्धिक पक्ष भी है और

उस बौद्धिक पक्ष को समझना आज के दार्शनिक सन्दर्भ में आवश्यक है। लेकिन जब तक इस दार्शनिक पक्ष को हम उस सबसे अलग करके नहीं देखेंगे जिसके साथ यह इस प्रकार घुला-मिला है कि उससे अलग करके इसको देखना मुश्किल है, तब तक हम इसके सन्दर्भ में दी गयी प्रखर तार्किक युक्तियों और उन शुद्ध बौद्धिक समस्याओं की, जिनके सन्दर्भ में यह चिन्तन हुआ है, दार्शनिक सूक्ष्मता को समझ ही नहीं पायेंगे। व्यवहार और परमार्थ के भेद को ही लें या प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के भेद को लें तो इसमें निहित और इनसे सम्बन्धित व संलग्न समस्याओं को हम तब तक देख ही नहीं पायेंगे जब तक उनको हम उस सारे सन्दर्भ से अलग करके नहीं देखेंगे जिसमें ये डेढ़ हज़ार साल तक बहस के विषय रहे हैं।

'व्यवहार' का आख़िर क्या अर्थ है? वह उस सबसे अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है जो हमारी इन्द्रियों का विषय है और जिसके सन्दर्भ में ही हम कर्म करते हैं। शरीर पर आश्रित और आधारित जो जगत् है वही व्यवहार-जगत् है। यही नहीं, उसी जगत् में हम एक अन्य जगत् की रचना करते हैं जिसका मूल एक तरफ मन से उत्पन्न अनेक इच्छाएँ हैं, जिनको भारतीय परम्परा में साधारणत: 'काम' कहा जाता है और दूसरी ओर मूल्योन्मुख चेतना के वे कल्पनाजनित आदर्श, जो कर्म को रूप देने की चेष्टा करते हैं, और तीसरे, भाषा द्वारा रचित मायावी लोक, ये सब मिलकर उस व्यवहार-जगत् की रचना करते हैं जो शरीर के आधार पर बनता है और जिसमें मनुष्य रहता है। यही साधारणत: कर्म का जगत् है, भाव का जगत् है और ज्ञान का भी। लेकिन जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे जड़ जगत् का छिपा हुआ सत् उस रूप में प्रकाशित होता है जो हमारे इन्द्रियानुभूत जगत् से कहीं भी मेल नहीं खाता। मामूली सा उदाहरण लें तो सबको स्पष्ट दिखाई देता है कि सूर्य चलता है। पर यह जो हमें इन्द्रियों से अनुभूत होता है, प्रत्यक्ष रूप में सत्य दिखाई देता है, उसको वैज्ञानिक ज्ञान 'झूठा' ठहराता है और हमको यह मानने पर बाध्य करता है कि जो प्रत्यक्षानुभूत है, जिसके सन्दर्भ में हम हज़ारों साल से व्यवहार करते आये हैं और अब भी करते हैं, वह वास्तव में सत्य नहीं है। सत्य कुछ और है, जो उससे उल्टा है, उससे भिन्न है।

लेकिन इस भेद को कोई 'व्यवहार' और 'परमार्थ' का भेद तो नहीं कहेगा! पर क्या यह भेद वैसा ही नहीं है जैसा अद्वैत की परम्परा में और बहुत सारी अन्य दार्शनिक परम्पराओं में प्रत्यक्षानुभूत को मिथ्या या 'व्यवहार' कहने और कुछ अन्य को, जो परोक्ष है, उसे 'परमार्थ' कहने में है? इस सन्दर्भ में और अधिक सूक्ष्म भेद किये जा सकते हैं और करने चाहिएँ भी। लेकिन जब तक हम यह नहीं देखेंगे कि व्यवहार और परमार्थ का भेद अन्य सन्दर्भों में भी किया जा सकता है और उसको अन्य प्रकार से भी देखा जा सकता है तब तक हम भारतीय

दार्शनिक चिन्तन की वेदान्तिक परम्परा में हुए विचार की दार्शनिक गहराइयों को नहीं देख पायेंगे।

यही बात कुछ-कुछ प्रातिभासिक सत्ता के बारे में भी सत्य दिखाई देती है। आख़िर प्रातिभासिक सत् को स्वप्न तक ही सीमित करने में क्या 'तुक' है? उसकी 'वास्तविकता' तो कला-जगत् में दृष्टिगोचर होती है। नाट्य को ही लें तो उसे हम 'सत्ता' की किस कोटि में रखेंगे? अद्वैत चिन्तन ने जो चार कोटियाँ हमें दी हैं उनमें से किसी में भी उसे रखना मुश्किल है। बंध्यापुत्र के समान तो वह है ही नहीं और न उसे हम स्वप्न की संज्ञा दे सकते हैं, क्योंकि वह हमें जागृत अवस्था में ही दिखाई देता है। व्यवहार की कोटि में भी उसको रखना कठिन है, क्योंकि जिसे साधारणत: हम व्यवहार-जगत् कहते हैं उससे वह न केवल स्पष्टत: अलग है बल्कि जानबूझ कर उसे 'अलग' रचा गया है। मंच इसीलिए दर्शकों से थोड़ा दूर और अलग बनाया जाता है। यह ठीक है कि नाटक कभी-कभी दर्शकों के बीच भी खेले जाते हैं और आजकल तो नुक्कड़-नाटक भी बाज़ारों के मोड़ पर खेले जाते हैं। पर उनमें भी दर्शक अलग होते हैं और खेलने वाले अलग। कहने का अर्थ यह है कि उनको उस रूप में व्यावहारिक सत्ता का नाम नहीं दिया जा सकता जिस रूप में इस शब्द का अक्सर व्यवहार होता है। यह और बात है कि उसका एक और भी पक्ष है जो व्यवहार-जगत् से उसी रूप में सम्बन्धित है जिस प्रकार वह सब जिसे हम साधारणत: व्यवहार की कोटि में रखते हैं। आख़िर नाटक के प्रदर्शन में समय भी लगता है और पैसा भी और उसके खेलने और खिलाने वाले उससे पैसा और यश कमाने की इच्छा भी करते हैं। पैसा खर्च करके पैसा न बने तो ज्यादा दिन कोई नाटक नहीं खेलेगा। कम्पनी बन्द हो जायेगी और खेलने वाले कुछ और धन्धा करने लगेंगे। लेकिन यह सब सत्य होते हुए भी उसका वह पक्ष जिसके कारण उसे 'नाटक' कहा जाता है, व्यवहार की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वह तो व्यवहार-जगत् की अनुकृति मात्र होता है और भरत ने उसे ऐसा ही नाम दिया है। भरत ही नहीं, अरस्तू भी उसके बारे में इस तरह की बात करता है और एक तरह से यही बात चित्र, साहित्य और कला के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी सही मालूम होती है। हालांकि यह कहना कठिन होगा कि वास्तु या संगीत किसकी अनुकृति होता हैं, या उन्हें अनुकृति के रूप में देखा जा भी सकता है?

इस सब विचार के एक पक्ष की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है, क्योंकि उसको समझे बिना जो कुछ कहा गया है उसको ठीक तरह से समझना कठिन होगा। दर्शन के इतिहास में विचार जो स्वरूप लेता है वह उन सब बौद्धिक और अन्य परिस्थितियों से 'बँधा' होता है जिसके सन्दर्भ में उसका उदय हुआ है। लेकिन उसकी अपनी भी एक स्वायत्तता होती है जो उसे उस बन्धन से मुक्त होने की प्रेरणा देती है। विचार के इतिहासज्ञ साधारणत: यह बात भूल जाते हैं और

बार-बार उसी को दोहराते रहते हैं जो जैसा एक समय कहा गया था, और उसमें किसी भी तरह की ज़रा सी तब्दीली को इस तरह से देखते हैं जैसे उसका करने वाला कोई बड़ी भारी भूल कर रहा हो। विचार की मुक्ति की बात आश्चर्यजनक लगेगी, उस परम्परा में भी जहाँ सदैव 'मुमुक्षुत्व' की बात कही गयी है। बन्धन से मुक्त होने की इच्छा सर्वत्र व्याप्त है और हर स्तर पर पायी जाती है। उसको किसी एक स्तर तक ही सीमित रखना उसके स्वरूप को समझने में सबसे बड़ी बाधा है।

इससे भी बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जो 'इतिहास' की बात करता है वह यह नहीं देखता कि कोई भी विचार अपने इतिहास के क्रम में उससे कितनी दूर चला जाता है जहाँ उसका उद्गम या जन्म होता दिखाई देता है। वस्तुओं के बारे में यह कहना कि वे वैसी ही हैं जैसी पहले थीं, हमेशा मुश्किलें पैदा करता है, क्योंकि परिवर्तन हुए बिना अपने 'स्वरूप' में प्रतिष्ठित रहना असम्भव है। इसका एक कारण तो यह है कि किसी को यह पता ही नहीं कि वास्तव में उस वस्तु का 'स्वरूप' क्या है। दूसरे, अगर कोई 'वस्तु' वास्तव में वस्तु है, यानि उसकी कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, तो वह सदैव दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में आती है और उस सम्बन्ध से सहज रूप में परिवर्तित होती है।

एक तरह से यही बात 'विचार' के बारे में भी सत्य है। किसी विशिष्ट विचार के स्वरूप का पता लगाना उससे भी अधिक कठिन है जितना किसी वस्तु विशेष के स्वरूप का पता लगाना। और विचार का अन्य विचारों से सम्बन्धित होना और उस सम्बन्ध के द्वारा उसमें सहज परिवर्तन आना उससे भी अधिक साधारण बात है जो किसी वस्तु और दूसरी वस्तुओं से उसके सम्बन्धों में पायी जाती है।

यही बात अद्वैत चिन्तन की प्रसिद्ध कोटियों के बारे में भी सही है और उनको उसी प्रकार देखना जिस प्रकार वे परम्परा में प्रस्तुत की गयी हैं, उनके साथ अन्याय करना है। यह ठीक है कि एक समय वे एक प्रकार से परिभाषित की गयी थीं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको उसी प्रकार से समझते रहना कोई ठीक बात है। कुछ कोटियों की बात तो हम अभी-अभी कर चुके हैं। पर अद्वैत-चिन्तन की एक कोटि, जिस पर कोई भी विचार करता दिखाई नहीं देता, उसकी ओर ध्यान दें तो जो बात हमने अभी-अभी कही है उसकी सत्यता पर शायद उतना ज्यादा अविश्वास नहीं होगा जितना कि साधारणत: जो अपने को भारतीय परम्परा में 'दार्शनिक' कहते हैं उनको होता है। बात 'तुच्छता' की कोटि की है और एक तरह से स्वयं तुच्छ ही है, क्योंकि इस पर न शंकर ने विचार किया है न उनके सम्प्रदाय के किसी अन्य दार्शनिक ने। पहला प्रश्न तो यह सहज रूप में उठता है, या उठना चाहिए, कि आख़िर यह 'कोटि' है क्या, और इसको मानने की आवश्यकता आचार्य को क्यों प्रतीत हुई? प्रातिभासिक और व्यावहारिक कोटियाँ तो सहज रूप में समझी जा सकती हैं। परमार्थ की कोटि को भी समझना अधिक मुश्किल नहीं है। लेकिन 'परमार्थ' है क्या, इसके बारे में

कोई विशेष मतैक्य दिखाई नहीं पड़ता। आख़िर अनुभव के अनेक प्रकार, स्तर और रूप हैं और हिन्दुस्तान में तो हर आदमी, या कम-से-कम हर परम्परा का गुरु, यह दावा तो करता ही है कि जो वह कह रहा है वह 'अनुभव-सिद्ध' है। यह सब होते हुए भी इस कोटि को मानने में अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पर, 'बंध्यापुत्र' या 'आकाशकुसुम' या 'शशशृंग' जैसी वस्तुओं के बारे में बात करने की क्या सार्थकता है? इनकी सत्ता तो कोई भी, किसी भी रूप में मानता ही नहीं है। न ही कोई इनके अभाव की बात करता है। फिर, इनकी बात करने की ज़रूरत क्या थी? लेकिन इससे भी अजीब बात यह है कि न किसी आचार्य को, न उनके किसी शिष्य को यह दिखाई दिया कि ये सब उदाहरण एक ही तरह के नहीं हैं और अगर इन पर गहराई से सोचा जाये तो लगेगा कि उदाहरण प्रस्तुत करने वाले ने इन पर शायद एक क्षण के लिए भी ध्यान नहीं दिया है। बंध्यापुत्र की असम्भावना एक तरह से पारिभाषिक है, या दूसरे प्रकार से कहें तो शब्दों के अर्थ के द्वारा उत्पन्न होती है। 'बंध्या' का अर्थ ही यह है कि वह स्त्री जिसके बच्चा हो ही नहीं सकता। इन दो में जो भेद है उसके बारे में किसी ने ध्यान दिया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु अन्य उदाहरणों में वैसी बात नहीं है। 'बंध्यापुत्र' की जगह कोई 'बंध्यापुत्री' कहे तो उदाहरण में कोई फर्क नहीं पड़ेगा, लेकिन 'आकाशकुसुम' में सहज रूप से यह समझ में नहीं आता कि क्या आकाश में कुसुम के बजाय कोई और चीज़ नहीं हो सकती? 'आकाश' शब्द कोई बंध्या शब्द की तरह नहीं है जिसके अर्थ में ही यह निहित हो कि उसमें कुछ हो ही नहीं सकता। यही नहीं, 'बंध्या' कहने से कम-से-कम यह तो पता चलता है कि किसी स्त्री की बात हो रही है, जबकि 'आकाश' कहने पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किसकी बात हो रही है। आकाश शब्द का अर्थ क्या है और क्या उस अर्थ में यह निहित है कि उसमें 'कुसुम' जैसी चीज़ हो ही नहीं सकती? 'आकाश' अक्सर शब्द का आधार माना जाता है लेकिन ऐसा 'आकाश' शब्द के अर्थ में निहित दिखाई नहीं देता। कहने का अर्थ यह है कि बंध्यापुत्र और आकाशकुसुम, ये दो उदाहरण एक ही कोटि के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते और इसलिए इन दोनों को 'तुच्छ' की कोटि में रखना सही प्रतीत नहीं होता। 'शशशृंग' की बात कहें तो वह और भी अजीब लगती है। आख़िर बेचारे खरगोश के सींग क्यों नहीं हो सकते? साधारणत: सींग नहीं होते हैं, ऐसा अनुभव में पाया जाता है। पर उसके 'सींग नहीं हो सकते' इसका आधार आचार्य को ही पता होगा और अगर उनके पास इसके लिए कोई आधार हो भी तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि यह उदाहरण न बंध्यापुत्र की तरह का है न आकाशकुसुम की तरह का। अगर कल किसी को कोई ऐसा खरगोश मिल जाये जिसके सींग हों, तो फिर क्या हम यह कहेंगे कि उसे 'खरगोश' कहा ही नहीं जा सकता या फिर हम यह मान लेंगे कि हमने जो बात कही थी कि 'शशशृंग' जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, वह बात ग़लत थी? आज तो जब जेनेटिक इन्जीनियरिंग की बात सब लोग करते हैं तब इस पर

शायद ही किसी को आश्चर्य हो कि अगर आज तक 'शशशृंग' जैसी कोई वस्तु नहीं भी हुई है तो भी उसका उत्पन्न करना मनुष्य के लिए कोई असम्भव कार्य नहीं है।

तुच्छ कोटि के सन्दर्भ में दिये गये उदाहरणों पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अद्वैत परम्परा में इस कोटि पर कोई विशेष विचार किया ही नहीं गया। लेकिन कम-से-कम आज तो हम इस पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र हैं, विशेषकर उस सन्दर्भ में जहाँ पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में इस कोटि पर किया गया विचार हमें उपलब्ध है। पश्चिमी परम्परा में इस तरह की बात को 'सेल्फ कंट्राडिक्शन' के नाम से इंगित करने की कोशिश की गयी है। भारतीय परम्परा में भी 'वदतोव्याघात' की बात की गई है और 'अर्थ' में 'स्वयं के व्याघाती' की बात करने से पहले दो प्रत्ययों को समझना ज़रूरी है जिन पर शायद पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में भी ध्यान नहीं दिया गया है। पहली तो यह है कि 'स्वयं' या 'आत्मा' या 'सेल्फ' का क्या अर्थ है? दूसरा प्रश्न व्याघात के बारे में है जो सत्यासत्य की कोटियों को मानकर चलता है। व्याघात का अर्थ अक्सर ऐसा माना जाता है कि वह अनिवार्य रूप से असत्य है। लेकिन इसका एक अन्य अर्थ भी है जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। वह यह है कि अगर उसे सत्य मानें तो वह 'असत्य' ठहरता है और अगर उसे असत्य मानें तो वह 'सत्य' ठहरता है। इससे भी एक अन्य गहरे स्तर पर वह 'सत्य'- 'असत्य' की धारणाओं को पूर्वमान्य करता है और इन्हें इतना 'स्वत:सिद्ध' मानता है जैसे इनके बारे में कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। लेकिन जैसा सबको पता है, सत्य-असत्य की बात करते ही प्रमाण-प्रमेय की बात लानी पड़ती है और यह समस्या उठती है कि क्या कोई प्रमाण कभी भी किसी बात को पूर्ण रूप से असंदिग्ध करार दे सकता है? प्रमाणों की 'प्रामाणिकता' कैसे सिद्ध होगी? और अगर नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशि की बात सोचें तो यह मानने में कठिनाई होगी कि प्रमाण-व्यापार कभी भी सन्देह से मुक्त हो सकता है।

पश्चिमी परम्परा में इस कठिनाई को ध्यान में रखकर सत्य के दो भेद किये गये हैं जिनको साधारणत: 'विश्लेषणात्मक' (एनेलिटिक) और 'संश्लेषणात्मक' (सिंथेटिक) का नाम दिया जाता है। इनको भारतीय परम्परा में 'स्वत:प्रमाण'-'परत:प्रमाण' की संज्ञा दी गई है, हालांकि दोनों में बहुत कुछ भेद भी है। इसी प्रकार भारतीय चिन्तन में एक और भेद किया गया है जिसकी ओर पश्चिमी परम्परा में ध्यान नहीं दिया गया है, वह भेद 'स्वत:प्रकाश' और 'परत:प्रकाश' के नाम से जाना जाता है। 'प्रकाश' और 'प्रमाण' का सम्बन्ध क्या है इस पर कोई विशेष चर्चा नहीं है, क्योंकि इस बात की सम्भावना पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता कि अगर कोई ज्ञान स्वत:प्रकाश है तो क्या वह स्वत:प्रमाण नहीं होगा और दूसरी तरफ अगर वह स्वत:प्रमाण है तो क्या

वह स्वत:प्रकाश नहीं होगा, और अगर जो स्वत:प्रकाश है वही स्वत:प्रमाण हो सकता है तो फिर इन प्रत्ययों में भेद करने की आवश्यकता क्या है?

'एनेलिटिक-सिंथेटिक' के भेद को कई तरह से समझा जा सकता है, लेकिन शायद सबसे आसान और सीधा तरीका इस भेद को समझने का यह है कि हम उस सत्य को 'एनेलिटिक' कहते हैं जिसकी सत्यता जानने के लिए हमको उस 'ज्ञान' से कहीं बाहर जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ज्ञान को समझते ही यह पता चल जाता है कि वह सत्य है या असत्य? वाक्यार्थ के निर्धारण के साथ ही सत्य-असत्य का भी निर्धारण हो जाता है। दूसरी ओर, अगर 'ज्ञान' को समझने के बाद भी सत्य-असत्य का प्रश्न खुला रहता है और उसके निर्धारण के लिए किसी और बात की तलाश करनी पड़ती है तो उसे 'सिंथेटिक' कहा जाता है। इस तरह के ज्ञान की सत्यता या असत्यता उस ज्ञान में स्वयं निहित न होकर उससे स्वतन्त्र किसी अन्य पर आश्रित होती है और यही उसकी अपूर्णता की द्योतक है। परन्तु इस अपूर्णता के कारण ही उस ज्ञान में एक सतत निरन्तरता उत्पन्न होती है, क्योंकि उस ज्ञान की सत्यता का आधार उससे कहीं बाहर होता है और इसीलिए 'जानने वाले' को उस 'तलाश' में प्रवृत्त होना पड़ता है जो धीरे-धीरे स्वयं एक ऐसी प्रक्रिया में बदल जाती है जिसका खात्मा कभी दिखाई नहीं देता। मनुष्य के ज्ञान की कहानी वास्तव में यही है और यह ज्ञान का प्रासाद अनेक लोगों के सामूहिक प्रयत्न से मिलकर बनता है जिसका कुछ अंश प्रत्येक को जन्म से ही विरासत में मिलता है। इस विशाल प्रासाद के अनेक खण्ड हैं और उनमें भी अनेक अलग-अलग कमरे हैं। कुछ लोग इसकी नींव की तलाश करते रहते हैं जिससे उन्हें यह आश्वासन हो जाये कि कोई भी भूचाल कभी भी इसे खण्डित नहीं कर पायेगा। पर ऐसा विश्वास उतना ही भ्रामक है जितना कि मनुष्य की बनायी गयी दूसरी इमारतों के बारे में। हालांकि किसी को यह सोचना भी अजीब लगेगा कि ऐसा समय भी आ सकता है जब ये विशाल सत्तर मंजिली अट्टालिकाएँ खण्डहर का रूप ले लेंगी या इतनी भूमिगत हो जायेंगी कि कोई पुरातत्त्व का विद्यार्थी या अन्वेषक ही उनको खोज पायेगा।

हड़प्पा की कहानी सबको पता है और विजयनगर साम्राज्य की बात भी कम-से-कम हिन्दुस्तान के कुछ रहने वालों को तो मालूम ही है। वैसे पुरातत्त्व ने ऐसी अनेक संस्कृतियों और सभ्यताओं का पता लगाया है जो आदमी की स्मृति से पूर्णरूपेण विलुप्त हो चुकी थीं।

लेकिन ऐसा बहुत कम लोगों को पता है कि मनुष्य के ज्ञान की कहानी भी बहुत कुछ इन संस्कृतियों और सभ्यताओं जैसी ही है। बहुत कुछ जो मनुष्य ने अथक परिश्रम करके पाया था वह आज उसकी स्मृति से भी लुप्त हो गया है। इस पर सहज विश्वास करना कठिन है लेकिन किसी भी विशाल पुस्तकालय की धूल भरी किताबों को देखकर सहज अनुमान हो सकता है कि इनमें छिपा हुआ ज्ञान

का हाल आज कैसा है और अगर पाण्डुलिपियों के किसी भण्डार को देखने का कभी किसी को मौका मिले तो वह आश्चर्य में डूबे बिना नहीं रहेगा कि आख़िर इन सबको कौन समझ पायेगा? धीरे-धीरे पुरानी प्रसिद्ध भाषाओं का ज्ञान खत्म होता जा रहा है। संस्कृत की बात छोड़ दें, लैटिन व ग्रीक के कितने विद्वान आज बचे हैं? यही बात अरबी फारसी की भी है और चीन की उस पुरानी जुबान की भी जिसका नाम लेते ही एक ऐसी संस्कृति की याद आती है जिसकी बात सभी लोग करते हैं पर जिसके बारे में जानते शायद कुछ लोग ही हैं। कहने का सीधा-साधा मतलब यह है कि मनुष्य के ज्ञान की खोज का भी वही हाल है जो उसकी अन्य जिज्ञासाओं का है। जो कुछ पाया गया था उसमें से बहुत थोड़ा ही बच पाता है और वह थोड़ा भी काल में इतना बदल जाता है कि यह कहना मुश्किल होता है कि उसका रूप वही है जो प्रारम्भ में था।

फिर भी 'बुनियाद' की बात करना कोई इतनी बड़ी ग़लती नहीं है जितना आज लोग समझ बैठे हैं। नींव को स्वत:सिद्ध होने की ज़रूरत नहीं है। उसके लिए तो सिर्फ इतना ही काफी है कि उस पर कई मंज़िलें खड़ी हैं और अगर उसको कोई धक्का लगे या उनमें कोई तब्दीली हो तो मंज़िलों में दरारें आये बिना नहीं रहेंगी। ज्ञान के बारे में भी यह बात काफी हद तक ठीक दिखाई देती है। आख़िर गणित, भाषाशास्त्र और प्रमाणशास्त्र कुछ ऐसे ही शास्त्र हैं जो कुछ-कुछ ज्ञान की नींव का काम करते हैं। यही बात जड़ द्रव्य के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके बारे में भी सच दिखाई देती है। ऐसे ज्ञान को आज भौतिकी कहा जाता है और रसायनशास्त्र की भी हालत कुछ-कुछ ऐसी ही है। ज्ञान के इन क्षेत्रों में जब कोई गहरा परिवर्तन होता है तो वह एक तरह से सभी अन्य ज्ञानों को इस तरह से हिला देता है कि वे अपने पूर्व स्वरूप को उस प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते जैसे कि वे पहले करते थे। पिछले सौ सालों में भौतिकी के क्षेत्र में जो आमूल परिवर्तन हुए हैं और जो आईंस्टाइन और हाइज़ेनबर्ग के नाम से जुड़े हैं उनका किसे पता नहीं है? यही बात उससे कुछ पहले रेखागणित के क्षेत्र में जो मूलभूत क्रांति हुई थी और जिसको नॉन-यूक्लीडियन ज्योमेट्री के नाम से जाना जाता है उसके बारे में भी है। गणित के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी में जो परिवर्तन हुए उनके दूरगामी प्रभावों का आंकलन करना कठिन है, लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने ज्ञान के अनेक क्षेत्रों की मूल दृष्टियों में ही परिवर्तन ला दिया। यही बात चेतना सम्बन्धी विचार की भी है और मनुष्य के समाज और राज्य सम्बन्धी विचार की भी। फ्रायड और मार्क्स के नाम सबको पता हैं। ज्ञान का कोई भी क्षेत्र आज इनके प्रभाव से नहीं बचा। यह कहना मुश्किल है कि गणित, भाषाशास्त्र और प्रमाणशास्त्र में होने वाले परिवर्तनों को अधिक महत्त्व दें या भौतिकी में होने वाले परिवर्तनों को या मनोविज्ञान और समाज और राज्य सम्बन्धी विचार में होने वाले परिवर्तनों को।

ज्ञान की कहानी को इस प्रकार देखने पर जो दृष्टि उत्पन्न होती है वह उस दार्शनिक दृष्टि से मूलत: भिन्न है जो ज्ञान की चर्चा में संलग्न होती है और जिसे साधारणत: ज्ञानमीमांसा कहा जाता है। परन्तु यह कहानी स्वयं उस भेद पर आश्रित है जिसे हमने एनेलिटिक-सिंथेटिक का नाम दिया था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि आज स्वयं दार्शनिकों ने इस भेद पर प्रश्नचिह्न लगाया है और यह मानने से इन्कार करने की कोशिश की है कि इनमें मूलत: कोई भेद है। क्वाइन का प्रसिद्ध लेख इस सन्दर्भ में सबको पता है परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि पिछले पचास-साठ वर्षों में ऐनेलिटिक के नाम से समझे जाने वाले ज्ञान के बारे में भी कुछ इस प्रकार का चिन्तन हुआ है जो उसके बारे में भी कुछ नये प्रश्नों को उठाता है और उसके बारे में नयी तरह से सोचने को बाध्य करता है।

इस सन्दर्भ में जिन आधारभूत सिद्धान्तों की ओर दार्शनिकों का ध्यान गया है उनमें एक ओर तो अन्तर्विरोध से ग्रसित स्वयंव्याघाती वाक्य या ज्ञान के बारे में है और दूसरी ओर वह उस सम्बन्ध के बारे में है जिसे पश्चिमी परम्परा में आइडेंटिटी रिलेशन कहा गया है और जिसको भारतीय दर्शन में साधारणत: तादात्म्य या सारूप्य की संज्ञा दी जाती है, हालांकि तादात्म्य का सम्बन्ध जिस प्रकार से भारतीय दर्शन में समझा गया है वह उस आइडेंटिटी रिलेशन से पूर्णरूपेण भिन्न है जिसे अरस्तू ने लॉ ऑफ आइडेंटिटी का नाम दिया है।

अरस्तू के लिए 'अ अ है' विचार के उन तीन आधारभूत नियमों में से एक है जिनमें से अन्य दो का नाम 'लॉ ऑफ कंट्रेडिक्शन' और 'लॉ ऑफ एक्स्क्लूडिड मिडल' है। इन दो का आकारिक रूप है- ''यह है और नहीं भी है।'' 'दोनों एक साथ नहीं हो सकता' और ''यह अनिवार्यत: या तो 'है' या 'नहीं है'।'' इन्हें आज अन्य प्रकार से लिखा जाता है। इसके विपरीत न्याय में 'घटोघट:' वाक्य निरर्थक माना गया है क्योंकि ज्ञान का अर्थ ही यह है कि उसमें कोई नवीनता हो। यह वाक्य वास्तव में कुछ नया नहीं कहता। लेकिन हाल ही में प्रो. वी.एन. झा ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि न्याय की कुछ सर्वमान्य मान्यताओं के आधार पर इसको उनसे निगमित सिद्ध किया जा सकता है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि यदि नैयायिक उन बातों को मानते हैं तो उनको इस वाक्य को भी अर्थपूर्ण मानना पड़ेगा, क्योंकि यह उनसे स्पष्टत: निगमित होता है। झा साहब की यह बात दूसरे नैयायिकों को मान्य नहीं है लेकिन इस चर्चा में भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की पत्रिका में कई विद्वानों ने भाग लिया है जिनमें मत-वैभिन्न्य है।

बात एक तरह से इससे भी गहरी है और वह जहाँ एक ओर भेद की सत्यता से सम्बन्ध रखती है वहीं दूसरी ओर इस बात से भी सम्बन्ध रखती है कि क्या विचार के लिए भेद अनिवार्य है? क्योंकि बग़ैर उसके विचार हो ही नहीं सकता। भेद-अभेद की चर्चा भारतीय दर्शन के मूल में है और अद्वैत चिन्तन का अन्य सभी चिन्तनों से भेद इसी पर आधारित है।

चिन्तन, तर्कबुद्धि और प्रमाण-प्रमेय-व्यापार सभी 'भेद' को माने बग़ैर अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते। यह बात प्रसिद्ध जैनाचार्य आचार्य समन्तभद्र ने अपनी पुस्तक आप्त मीमांसा में बहुत पहले स्पष्ट रूप में कही थी। उनका कहना था कि 'हेतु' और 'साध्य' के बीच भेद माने बिना तर्क हो ही नहीं सकता और अद्वैत दार्शनिकों को कम-से-कम इस भेद को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि अगर वे इस भेद को स्वीकार नहीं करते तो फिर उनके दिये हुए तर्क स्वयं दोषग्रसित होंगे और उनको स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं रहेगा।

आचार्य समन्तभद्र का यह तर्क एक प्रकार से उस समस्या की ओर ध्यान दिलाता है जो सारे बौद्धिक व्यापार के लिए एक मूलभूत समस्या को उत्पन्न करती है। बुद्धि को माने बिना मनुष्य 'सही-ग़लत' का निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाता है, लेकिन जब वह बुद्धि के बारे में विचार करता है तो उसको लगता है कि बुद्धि स्वयं 'आत्मव्याघाती' है, क्योंकि या तो वह 'अनवस्था' दोष से ग्रसित होती है या 'चक्रक' दोष से। किसी बात को माने बिना बात चल ही नहीं सकती और अगर कोई यह पूछे कि इस बात को मानने का आधार क्या है तो बात करने वाले को कोई और बात बतानी पड़ेगी और यह बात उस 'बात' के लिए फिर लागू हो सकती है। तंग आकर आदमी यही कहेगा कि तुम्हें दिखाई नहीं देता यह बात स्वयंसिद्ध है और इसके बारे में शंका नहीं की जा सकती? पर अगर कोई भी बात संदेह या शंका से परे है तो फिर सभी बातों को ऐसा क्यों नहीं माना जाये? इसका कोई आसान उत्तर है नहीं, कम-से-कम 'तार्किक' सन्दर्भ में। वैसे, मन अगर किसी बात को नहीं मानता तो फिर उसके बारे में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। दार्शनिक लोग इसको मनोवैज्ञानिक कह कर अलग कोटि में रखते हैं और उनके अनुसार ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में इसकी बात करना अपने 'अदार्शनिक' होने का प्रमाण देना है।

भारतीय परम्परा में बुद्धि के बारे में इस कठिनाई को जहाँ एक ओर नागार्जुन ने व्यक्त करने की कोशिश की थी वहीं दूसरी ओर श्रीहर्ष ने भी अपने खण्डनखण्डखाद्य में इसकी विशद चर्चा की है। इनके नाम प्रसिद्ध हैं लेकिन यह साधारणत: नहीं देखा गया कि प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात बिल्कुल दूसरे दृष्टिकोण से कहने की कोशिश की थी। प्रभाकर के मत को साधारणत: इस प्रकार रखा जाता है कि सभी ज्ञान एक प्रकार से स्वयंसिद्ध ही होता है, या दूसरी प्रकार से कहें तो वह तब तक विश्वसनीय रहता है जब तक उस पर संदेह करने के लिए कोई आधार उत्पन्न नहीं हो। साधारणत: इस सन्देह का आधार, जो हमें ज्ञात है उसके सन्दर्भ में उत्पन्न नहीं होता और इसीलिए हम विश्वास के सहारे जीवन बिताते हैं। लेकिन अगर कभी किसी कारणवश सन्देह या शंका उत्पन्न हो भी जाये तो फिर उस कारण का निवारण भी आसानी से हो सकता है। कम-से-कम इतना तो स्पष्ट ही है कि वह सन्देह या शंका कभी भी ऐसी नहीं हो सकती कि उसका निवारण अपने-आप में असम्भव हो।

प्रभाकर की यह बात अधिकतर दार्शनिकों को पसन्द नहीं आयी, न उन्होंने ही इस पर कोई विशेष ध्यान दिया। इसी तरह की एक और बात जैन दार्शनिकों ने अपने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त में प्रतिपादित करने की चेष्टा की थी, परन्तु उस ओर भी कोई अधिक ध्यान नहीं दिया गया। जैन दार्शनिकों के ये सिद्धान्त इस बात को प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं कि कोई मत अपने आप में न सम्पूर्णत: सत्य है न असत्य। वह सन्दर्भ विशेष और दृष्टि विशेष में ही सत्यासत्य ठहरता है और ऐसी कोई स्थापना हो ही नहीं सकती जो सभी सन्दर्भों और दृष्टियों में सत्य या असत्य पायी जाये।

बुद्धि और सत् के सम्बन्ध में जो प्रश्न उपस्थित होते हैं वे जहाँ एक ओर 'सत्' और 'बुद्धि' के अपने स्वरूप से सम्बन्धित हैं वहीं दूसरी ओर वे एक ओर चेतना और बुद्धि के सम्बन्ध से भी सम्बन्धित हैं और दूसरी ओर 'चेतना' और 'सत्' के सम्बन्ध से भी। इससे भी अधिक गहरा प्रश्न तो यह है कि चेतना का स्वयं सत् क्या है? और जब भी चेतना की बात होती है तो ऐसा लगता है कि उसके सत् के सम्बन्ध में केवल सत्यता-असत्यता की बात करना निरर्थक है, क्योंकि चेतना होते हुए भी उसके बारे में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह वैसी नहीं है जैसी उसे होना चाहिए, उसमें कोई कमी है जो दूर करनी चाहिए और जो दूर की जा सकती है। कहने का अर्थ यह है कि चेतना की बात करते ही 'मूल्य' की बात स्वयं सहज रूप में उत्पन्न होती है और ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में जो सत्य है उसको उससे अलग नहीं किया जा सकता जिसको अनेक ऐसे शब्द बताने की कोशिश करते हैं जिनका केन्द्र-बिन्दु यही है कि जो 'है' वह वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। साधारणत: इस सन्दर्भ में शिव और सुन्दर की बात कही जाती है। परन्तु ये दो शब्द उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं जिसकी माँग चेतना अपने स्वयं से सदैव करती दिखाई देती है।

सत् के सन्दर्भ में चेतना के इन दो पक्षों की बात साधारणत: नहीं की जाती। चेतना स्वयं सत् है और उसका जो भी विषय होता है उसके बारे में वह हमेशा एक प्रश्नसूचक दृष्टि अपनाती है जिसका एक आयाम इस बात से सम्बन्धित होता है कि क्या वह उस विषय को उसी प्रकार जानती है जिस प्रकार वह विषय स्वयं है? दूसरी ओर वह इस विषय के प्रति प्रिय-अप्रिय या इष्ट-अनिष्ट की अभिवृत्ति अनुभव करती है। इस प्रेयता या श्रेयता के अनेक आयाम हो सकते हैं जिनकी चर्चा करना यहाँ अवान्तर है। दूसरी ओर चेतना अपने स्वयं के बारे में भी यह सदैव महसूस करती है कि वह शांत है या अशांत, प्रसन्न है या अप्रसन्न, उदात्त है या अनुदात्त, स्नेहपूर्ण है या राग-द्वेष-मोह से परिपूर्ण? इस प्रकार के अनेक विशेषण उसके बारे में सहज उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन आसानी से नहीं किया जा सकता लेकिन जिनका सभी को सहज रूप में पता होता है। इसी से वह सत्य उद्भूत होता है जो एक ओर मनुष्य को सारे संसार को उस रूप में परिवर्तित करने की चेष्टा में प्रवृत्त करता है जो उसे उससे अधिक अच्छा लगता है जैसा वह

उस समय प्रतीत होता है और दूसरी ओर यही चेतना उसे स्वयं अपनी चेतना में परिवर्तन करने के लिए भी प्रवृत्त करती है। लेकिन यह बात जो सहज रूप में सभी को सदैव अनुभूत होती रहती है दार्शनिक विचार का केन्द्र-बिन्दु नहीं बनती है, क्योंकि दार्शनिक चिन्तन यह मान ही नहीं सकता कि 'सत्' का स्वरूप कभी ऐसा भी हो सकता है कि वह स्वयं अपने आप में और जो कुछ भी अन्य है उसमें परिवर्तन लाने की सतत् चेष्टा करता रहे। अद्वैत चिन्तन इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है। वैसे यह बात अन्य दार्शनिक परम्पराओं में भी सहज रूप में प्राप्त होती है। अद्वैत दर्शन इस सत्य को इसीलिए स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि इसमें जो 'है' और जो 'होना चाहिए' उसमें सदैव 'भेद' रहता है। वास्तव में देखें तो दार्शनिक दृष्टि न कर्म को समझ सकती है न काल को, न परिवर्तन को, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि इनको अपनी 'समझ' से बाहर पाती है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि वह फिर भी श्रेय की बात करती है, प्रेय और श्रेय में भेद करती है, पुरुषार्थ की बात करती है, साधन और साध्य का भेद करती है। ये सब भेद मनुष्य के मूल में उपस्थित हैं और मनुष्य की सत्ता को एक प्रकार से परिभाषित करते हैं। जब तक मनुष्य की बुद्धि मनुष्य के इस सत् को स्वीकार नहीं करेगी तब तक वह मनुष्य को समझने में असमर्थ रहेगी।

दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने मनुष्य को उस प्रकार से देखा ही नहीं जिस प्रकार वह है। उसके लिए मनुष्य न पैदा होता है न मरता है, न कभी वह बालक था, न युवा और न वृद्ध। यही नहीं, इसमें लिंग-भेद को भी वह अस्वीकार करता है : उसके लिए न कोई स्त्री है न पुरुष, न युवती है न युवक और वह कभी प्रेम की बात करता है तो सिर्फ भगवान् से। बीमारी और पागलपन तो उसने शायद कभी देखे ही नहीं हैं और न उसने कभी चूल्हे-चौके की बात की है न झाड़ू-पौछे की। कहने का मतलब यह है कि दर्शन के नाम पर जो हज़ारों साल से चिन्तन हुआ है उसका आदमी से कोई लेना-देना नहीं है। शायद मनुष्य ने दार्शनिक चिन्तन को इसीलिए जगह दी है कि वह उसे अपने वास्तविक जीवन से कुछ क्षण के लिए दूर ले जा कर किसी ऐसे कल्पित सत्य में 'रहने की' सुविधा दे। यह बात दूसरी है कि वहाँ रहना कुछ क्षणों के लिए ही हो सकता है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता भी यह सब करते हैं। दार्शनिक शायद उसी बात को बुद्धि का जामा पहना कर मनुष्य को उस माया लोक में ले जाता है जहाँ उसके अनुसार चरम सत्य के दर्शन होते हैं—अनित्यता से नित्यता की ओर, दुःख भरे संसार से शाश्वत आनन्द की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर। इससे बड़ा 'छलावा' क्या हो सकता है? वैसे क्या भगवान् ने स्वयं यह नहीं कहा था 'द्यूतं छलवतामस्मि'? और दर्शन से बड़ा 'जुए का खेल' और क्या हो सकता है?

❑

कर्म की चर्चा : नयी, पुरानी और इनसे भी अलग कुछ और

कर्म की बात करते ही पहला सवाल जो मन में उठता है वो यह है कि आखिर कर्म क्या है? क्रिया मात्र तो कर्म नहीं है, और क्या जानवरों में कर्म की बात की जा सकती है? जहाँ तक पेड-पौधों का सवाल है उनके बारे में कर्म की बात कोई करता ही नहीं, हालांकि पौधे स्वयं ही बड़े होते हैं और ज़मीन, धूप और पानी से अपने को पालते-पोसते, बड़ा करते हैं। उनकी भी ज़िन्दगी होती है, जीवन और मृत्यु उनके साथ भी लगी होती है और वे भी खिलते और मुरझाते रहते हैं।

कहने का अर्थ यह है कि जहाँ भी 'प्राण' है वहाँ कुछ ऐसा दिखाई देता है, जो कुछ भी प्राणवान् है, वह अपने को बचाये रखने की कोशिश ही नहीं करता, बल्कि उसे कुछ आगे बढ़ाने की, बड़ा होने की, कुछ और अच्छा होने की कोशिश भी उसमें दिखाई देती है।

लेकिन यह सब होते हुये भी हम वहाँ कर्म की बात नहीं करते, क्योंकि एक तरह से जो कुछ जानवर में पाया जाता है, या पेड-पौधों में भी, वो सब आदमी में भी मिलता है। लेकिन आदमी में उससे कुछ और ज़्यादा मिलता दिखाई देता है। और मनुष्य के सम्बन्ध में कर्म की बात उसी के बारे में की जाती है। लेकिन आदमी में वह क्या है जिसके सम्बन्ध में कर्म की बात होती है। आदमी एक ऐसा अजीब प्राणी है जो हमेशा जानने की कोशिश में लगा रहता है, ज्ञान-अर्जन करने की, ये पता लगाने की कि आखिर ये सब क्या है, जो होता है क्यों होता है। लेकिन इसकी तो शायद ही कभी कर्म के सम्बन्ध में चर्चा की जाती है। ज्ञान-अर्जन की प्रक्रिया को कर्म क्यों नहीं कहा जाता। यही नहीं, आदमी और बहुत कुछ करता है जिसको भी कर्म की चर्चा करते वक्त एक ओर रख दिया जाता है, आदमी गाता है, नाचता है, तस्वीर बनाता है और पता नहीं क्या-क्या करता है उन सबको कर्म नहीं कहते। लिखने-पढने के काम को शायद ही किसी ने काम समझा हो, और जिसे कभी 'कर्म' उस अर्थ में जो इसे वेदों में 'कर्म' की संज्ञा दी गयी थी, उसको क्या कभी कर्म माना गया है। यही बात उस कर्म के चिन्तन के बारे में भी सच है जिसे वेद में 'मनीषी' कहकर इंगित किया गया है।